219

701
E-219

ओ३म्

ओ३म् भूर्भुवः स्वः तत्सवितुर्वरेण्यं
भर्गो देवस्य धीमहि धियो योनः प्रचोदयात्।

जन कल्याण का मूलमंत्र

गायत्री-व्याख्या

(विश्वशान्ति का घोषणा पत्र)

पं० मदनमोहन विद्यासागर

जनकल्याण का मूलमन्त्र

(विश्वशान्ति का घोषणापत्र)

(गायत्री मंत्र की सर्वथा नवीन व्याख्या)

पण्डित मदनमोहन विद्यासागर

आर्य समाज पुस्तकालय
राजेन्द्र नगर, नई दिल्ली
ले० नं० 701
वि० नं० 214

विक्रमी सम्वत् २००३ दयानन्दाब्द १२३

मूल्य चार आना

१००० प्रतियां

प्रकाशक—
गोविन्दराम हासानन्द
आर्य साहित्य भवन,
नई सड़क, देहली

इस पुस्तक के सर्वाधिकार लेखक ने अपने पास
सुरक्षित रक्खे हैं।

इस संस्करण के मुद्रण का समस्त भार मेरे मित्र श्री मनोहर विद्यालंकार (देहली) ने उठाया है, कृतज्ञ हूं।

मदनमोहन विद्यासागर
प्रेम मन्दिर
तेनाली (मद्रास प्रान्त)

मुद्रक—
हरीहर प्रेस
देहली

❀ गायत्री मंत्र ❀

भूर्भुवः स्वः । तत्सवितुर्वरेण्यं भर्गो देवस्य
धीमहि । धियो यो नः प्रचोदयात् ॥

ऋग् म० ३ । सू० ६२ । मं० १० ॥

यजुः अ० ३६ । मं० ३ ॥

मैंने यह पुस्तिका 'ज्ञानदान' करने के निमित्त नहीं लिखी। 'ज्ञान' बहुत बढ़ गया है। वह पचा नहीं। न पचने का यह परिणाम है कि हम में 'जान' नहीं आई। यह काम मैं करना चाहता हूं।

आप पढ़िए। अपने जीवन के एक एक क्षण, एक एक दिवस और इस प्रकार समस्त जीवन का सुधार कीजिए। अपने जीवन में गायत्री का पक्का रंग लाइए। इसका ऐसा नशा चढ़ाइये कि जिसे कोई भी तुर्शी उतार न सके।

यदि आपके मस्तिष्क में इसको पढ़ने के पश्चात् कोई नई सूझ आती है; कोई त्रुटि चाहे वह भाषा सम्बन्धी हो या भावसम्बन्धी आपको खटकती है या किसी प्रकार का आप परिवर्तन चाहते हैं— परन्तु आप सूचना नहीं देते तो अपने कर्तव्य से विमुख हो जाते हैं। पथ प्रदर्शन तथा दोष निवारण ही सच्चा सहयोग होने से मनुष्यता है।

मैं अपने आदरणीय मित्र विद्वान् श्री पं० रामदत्त शुक्ल जी का धन्यवाद करता हूं, जिन्होंने इसके प्रथम संस्करण के संपादन में अपना अमूल्य समय दिया है। द्वितीय संस्करण के संशोधन में श्री पं० विश्वनाथ जी वेदोयाध्याय (लाहौर) व श्री नन्दलाल जी आर्य (लाहौर) ने बहुत उपयोगी सुझाव दिये हैं, उनका आभारी हूँ।

——ॐ——

१. उपक्रम-विषय प्रवेश

वैदिक सनातन धर्म—जिसे आजकल (भ्रम से) प्रचलन में हिन्दू धर्म नाम दिया जाता है—की आधार-शिला वेद हैं, जो कि मानव जाति के पुस्तकालय में प्राचीनतम ग्रन्थ माने गए हैं। आर्य जाति इन्हें ईश्वर-प्रदत्त मानती है। उसका विश्वास है कि मानवमात्र के कल्याणार्थ सृष्टि के आरंभ में परमेश्वर ने इनका ज्ञान दिया। बहुत समय तक न केवल भारतवर्ष में ही, अपितु इतरप्रपंच में भी वेदों की शिक्षाओं का प्रचार रहा और 'आर्यजाति' उस समय अभ्युदय और निःश्रेयस् की चरम सीमा पर चढ़ी रही। उसकी तूती दुनियां में बजती रही। आर्यजाति से मेरा अभिप्राय उस मानव-समुदाय से है, जो 'उत्तम आचरण को करता है, दुराचरण से दूर रह, परस्पर सहयोग-भाव से सदा प्रगतिशील रहता है।" क्यूंकि प्राचीन काल में भारत देश में बसनेवालों ने इस प्रकार का आचरण किया, इसी लिये आर्यजाति को भारत में बसने वाली मानता हूं। इसी लिए इस देश का नाम आर्यवर्त कहा जाता है।

वेदों का सार विद्वानों ने गायत्री मंत्र को कहा है। इसी लिये भारतीयों में इसके जाप से 'परम कल्याण=भवसागर-तरण' माना जाता है। बहुत दिनों से मैं इस पर विचार कर रहा था कि गायत्री में ऐसी कौन-सी विशेषता है, जो इसको वेदों का निचोड़ मान इतना गौरवपूर्ण पद मिला है? न जाने कितने सोच-विचार एवं अन्तर्ध्यान के पश्चात् इसका रहस्य मेरे सामने एक दिन अचानक खुला।

२. 'गायत्री-मंत्र' का अर्थ

यजुर्वेद के प्राचीन भाष्य 'शतपथ-ब्राह्मण' नामक प्रामाणिक ग्रन्थ के अनुसार 'गय' शब्द का अर्थ प्राण है। ऐसा ही महर्षि दयानन्द ने 'ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका' में स्वीकार किया है। 'गय' ही 'गाय' है। 'त्राण' शब्द का अर्थ रक्षण होता है। यह 'गायत्री' शब्द 'गय'= 'गाय+त्राण' इन दोनों शब्दों के मेल से बना है, जिसका अर्थ हुआ 'प्राणरक्षण'*।

मन्त्र शब्द का अर्थ होता है 'मनन, विज्ञान (साइन्स) विद्या, ज्ञान'। इस शब्द-निर्वचन से स्पष्ट हुआ कि 'गायत्री-मन्त्र' में वह रहस्य वर्णित होना चाहिये, जिससे किसी व्यक्ति, कुल, मानव समाज एवं प्राणि-मात्र की प्राण रक्षा हो, वे सदा सुखानन्द भोग करते रहें। तथा इतने समर्थ बने रहें कि प्रपंच में अपने २ स्थान पर ठीक बैठ अपने योग्य कार्य का उचित निर्वाहन कर सकें। इस प्रकार 'गायत्री-मन्त्र' इस शब्द का अर्थ हुआ 'प्राण-रक्षण-विद्या' जीवन विज्ञान या 'साइंस आफ लाइफ'। इसी को भारतीय जनता 'तारक-मन्त्र' नाम से पुकारती है, और इसके जाप से परम पुण्य समझती है; महा कल्याण मानती है। हमें यहां यह भी समझ लेना चाहिए कि यह 'प्राणरक्षा' केवल मानव-जाति की ही नहीं, अपितु समस्त 'जीवित-जागृत प्राणि-मात्र' की है। जीव चाहे किसी भी योनि में क्यों न हो, उसका रक्षण— पूर्ण विकास आवश्यक है।

---

* सा हैषा (गायत्री) गयांस्तत्रे। प्राणाः वै गयास्तत्प्राणांस्तत्रे तद्यद्गायांस्तत्रे तस्माद्गायत्री नाम। श० १४।८।१५।७॥

इयमेव (पृथिवी) गायत्री॥ जै. उ. १।५५।३॥

इयं (पृथिवी) वै गायत्री॥ तां. ७।३।११॥

३. जीवन-रक्षा

परमेश्वर ने इस जगत् में पिछले किये कर्म का फल भोगने और नये कर्म करने के लिए जीवात्मा को भेजा है। जीव, मानव देह पिछली फसल काटने और नये बीज बोने के प्रयोजन से धारण करता है। वह ८४ लाख योनियों में इसी लिए आ जा रहा है। यही हमारी जीवनधारा है। जो कुछ भी हम कर रहे हैं, उसके आधार में 'जीवनरक्षा' 'प्राणों का त्राण' यही भाव निहित है।

स्वस्वाहारविहारसाधनविधौ सर्वे जनास्तत्पराः।
कालस्तिष्ठति पृष्ठतः कचधरः केनापि नो दृश्यते॥

अर्थात् कई बार वह इस जीवन में इतना व्यस्त हो जाता है कि सिर पर मंडराती मौत को भी नही देख पाता। सबल निर्बल, धनी–निर्धन, मूर्ख विद्वान, कोई भी क्यों न हो अपने प्राणों का नाश नहीं चाहता। रोगों से दुखी संतप्त व्यक्ति भी प्राणों के मोह को नही छोड़ता। इस जीवन की रक्षा केलिये मनुष्य न जाने कितने कितने भयानक कृत्य करता है। कितने अनुचित उपायों का अवलम्बन करता है। आश्चर्य है कि सहस्रों बार 'नैतिक मृत्यु' होजाने पर भी अपने जीवन को बचाना चाहता है। योंहि अपने आप को कौन गंवाता है।

यही दशा जतियों की है। व्यक्तियों के समुदाय का नाम समाज है। जब वह बहुत देर तक एक भूमि-स्थल पर बसा रहता है, उसमें आचार विचार एक हो जाते हैं, भाषा सबके मुखस्रोत से एक जैसी सरती है, तब उसे 'जाति' की परिभाषा मिल जाती है। भिन्न व्यक्तियों कासमुदाय जब लगभग एक जैसा आचार, एकसा अनुष्ठान एक सी वेश भूषा, एक भाष को स्वीकारता है तो उसकी जाति संज्ञा होजाती है।

जब समस्त भूतलपर इस प्रकार की बहुत सी (मानव–समुदायरूप) जातियां विकसित होजाती है, तब वे भी अपने स्वार्थों से प्रेरित हो एक

दूसरे के भयानक विनाश पर तुल जाती हैं। एक जाति दूसरी जाति के सब अधिकारों का अपहरण करने पर कटिबद्ध हो जाती है। उस समय न्याय – अन्याय, धर्म–अधर्म कोई पूछता नहीं।

इसके मूलमें भी वस्तुतः जीवनरक्षा का भाव ही प्रेरक हेतु होता है। एक जाति अपने जीवन को बहुत चिरस्थायी बनाये रखने के निमित्त ही ऐसा करती है। जब यह भाव पूर्ण स्वार्थमय हो जाता है, उस समय फिर भूतल पर 'रक्तप्लावन' होने लगता है, बड़ी बड़ी लड़ाइयां लड़ी जाती हैं। यह चक्र चलता ही रहता है। यह सत्य है कि इस संघर्ष में योग्यतम की विजय होती है, असमर्थ दुनियां के तख्ते पर से सदा के लिये मिटा दिये जाते हैं। इस प्रक्रिया में शक्तिशाली बने रहते हैं और कच्चे घड़े फूट जाते हैं।

यहां हमें यह नही भूलजाना चाहिये कि जो 'जीवो जीवस्य भोजनम्' कह जिन निरीह एवं बेबस पशु–पक्षियों के ढेरकेढेर को उदर दरी में भरते हैं, वे भी अपनी जीवनरक्षा चाहते हैं। हमारे हाथ से छूटकर हरी हरी घास चरना चाहते हैं, मीठे मीठे दाने चुगना चाहते हैं, शीतल पवन पीने की आकांक्षा रखतेहैं,जल में आनन्द से स्वच्छन्द बिचरने को पसन्द करते हैं। ये हमारे पेट रूपी कन्सेण्ट्रेशन कैम्प के बन्दी किसी भी दशा में नहीं बनना चाहते।

वृक्ष-वनस्पति भी काटे जाने पर दो अश्रु बहाये बिना नहीं रहते। पर विवश हैं, लाचार हैं, नहीं तो तड़पते चीखते।

रक्षासे मेरा अभिप्राय उस बचावसे नहीं, जिसमें चारोंतरफ मुसीबत ही मुसीबत हो। मानों मनुष्य को सब ओर से डर ही लगाहो। 'जीवन रक्षा' का अभिप्राय है एक मनुष्य अपने जीवन की धारा को निरन्तर गौरव के साथ चलाये जाये। वह निर्भय होकर हर दशाओं में भली प्रकार निभा लेने में समर्थ हो जावे। प्रत्येक व्यक्ति स्वस्थ दीर्घायु

बनना चाहता है। मैं ऐसे करने की क्षमता को ही जीवन रक्षा कह रहा हूँ। मैं जीवन को कुसमसम मृदु एवं बज्र सदृश कठिन बनाते हुए

"जीवेम शरदः शतम्, अदीनाः स्याम शरदः शतम्।"

(अथर्ववेद)

की यथार्थता देखना चाहता हूँ। मैं किसी को डराना नहीं चाहता कि सावधान भय है—तुमबच नहीं सकोगे...। मैं तो यही कहूँगा कि इस जीवन में तुमने यशस्वी आयुष्मान् वर्चस्वी होकर रहना है, इसी में तुम्हारी जीवनरक्षा है। केवल प्राणधारण का नाम ही जीवनरक्षा नहीं, क्यों कि उसके तो सदा ही नष्ट हो जानेकी आशंका बनी रहती है। जीता उसीको कहते हैं, जो कि मर कर भी स्मरण किया जावे। यही अमृतप्राप्ति है।

४. सुखाभिलाषा

यह 'जीवन-रक्षा' क्यों? इस सब आन्दोलन एवं संघर्ष का क्या कारण? इतनी चहलपहल, आपाधापी, धींगा मुश्ती किस वजह से नजर आती है? इसी लिये कि मैं और आप सब सुख चाहते हैं। यही नहीं कि मानव, अपितु संसार में मुझे तो ऐसा स्पष्ट दृष्टिगोचर हो रहा है कि प्राणिमात्र ही आनन्द का इच्छुक है। यही सुख-प्राप्ति की अतिशय अभिलाषा जब स्वार्थ का रूप धारण कर लेती है तब भयानक उत्पात मचा देती है। मानव हृदय पर से परहित भावना का आवरण हट जाता है और निज हित-साधन में मनुष्य भयानक रूप में लीन हो जाता है।

मनुष्य व जातियां समझती हैं कि कौन जाने कल क्या हो, चलो सुखसाधक सामग्री इतनी इकट्ठी कर लें कि कभी दुःख पास ही न आ सके। ऐसी विचार धारा जब प्रबल हो जाती है तब योग्यतम एवं शक्तिशाली व्यक्ति साधारण प्रजा की अपेक्षा अधिक संग्रह कर

लेता है। तब शोषण प्रारम्भ हो जाता है जो कि विषमता का प्रधान हेतु है। इसमें मूल कारण सुखाभिलाषा ही है; यद्यपि इसकी अतिशय मात्रा निरन्तर तीव्र दुःख ही उत्पन्न करती चली जाती है।

प्राणियों में सूक्ष्मतम जीव-जन्तु अथवा निकृष्टतम प्राणी वराह भी यह न समझो कि नीरस हृदय लिये हैं। उसमें भी सुखाभिलाषा है, चाहे वह कला-शून्य ही क्यों न हो ?

यदि वृक्ष-वनस्पतियों में सुखाभिलाषा न होती तो रंगबिरंगी प्रकृति में सुहावनी बसन्त की मादक स्फूर्ति कभी न होती। हरे हरे पौदों पर शोभामय फूलों का उग आना उसी सुखाभिलाषा की सर्वोत्कृष्ट सौंदर्यमयी अभिव्यक्ति है।

इस सुन्दर विशाल प्रकृति की प्रत्येक क्रिया हमारे भले के लिए ही है। प्रकृति का विधान हमारे सुख के लिए ही है। यह बात और है कि उपयोग ठीक न करने से हम अपने आप को दुखी बनालेते हों।

इस प्रकृति का एक एक कण सुखसुधापूरित मधु-घट है, जिसे ठीक न संग्रह कर हम तोड़ फोड़कर दुखी हो रहे हैं।

दूसरी बात इस विषय में यह स्मरण रखनी चाहिए कि सुख-प्राप्ति (जिसे आर्य दार्शनिक परिभाषा में अभ्युदय और निःश्रेयस् नाम दिया जा सकता है) जो जीवन-रक्षा का आधार हैं, वह बिना बुद्धि-विकास के प्राप्त नहीं हो सकती है। चाहे कोई जाति या समाज हो और चाहे कोई व्यक्ति विशेष हो, बिना बुद्धि-वैभव के जीवित नहीं रह सकते। जो बुद्धिमान है वह मरते-मरते भी बच जाता है, यमराज के दूतों के हाथों में पड़ कर भी स्वस्थबदन बाहर निकल आता है। इसके विपरीत अबुद्धि जीवित रहते हुए भी मरा रहता है, बचता बचता मृत्युगर्त में समा जाता है। इसी लिए बुद्धिमान जनों ने कह दिया—

बुद्धिर्यस्य बलं तस्य निर्बुद्धेस्तु कुतो बलम् ?

इस बुद्धि के द्वारा हमने ऐसा उपाय निकालना है जिससे हमें सदा सुख मिलता रहे। पर इसका यह-अभिप्राय कभी भी नहीं कि केवल बुद्धि ही सुखोपभोग का साधन है। इसके लिये शारीरिक बल भी अपेक्षित है। सामने पदार्थ पड़े हों– यह भी निश्चय कर लिया गया हो कि ये सब मधुर हैं—उस समय यदि उसे ग्रहण करने के लिये उदर न हो तो भी सुखाभिलाषा व्यर्थ है। बुद्धि के द्वारा तो एक प्राणी सुख के लिये अभिलषित पदार्थ को पहिचान उसकी प्राप्ति का मार्ग ढूंढता है; पर उसके उपभोग आस्वादन के बिना सुखानुभूति हो ही नहीं सकती, जिसके लिये शरीरबल की नितान्त आवश्यकता है। अन्न से तृप्ति उसके संग्रह-मात्र से नहीं। जब तक वह जिह्वा द्वारा अन्दर धकेला जाकर पच न जावे तृप्ति हो ही नहीं सकती।

वेदों में मनुष्य को 'श्रीमान्' बनाने का उपदेश है। सब प्रकार के सुखसंग्रह का नाम श्री है। यह धन, वैभव, ऐश्वर्य, कीर्ति इन सबका बोधक शब्द है। इसको प्राप्त करने के लिए ब्रह्म=ब्राह्म शक्ति और क्षत्र=क्षात्रबल का सम्पादन अनिवार्य बताया है। साधारण भाषा में इसी को बुद्धि-बल व शारीरिक शक्ति द्वारा सुखोपभोग करना या मनोरथ-तृप्ति कहा जाता है।

५. सुख की बाह्य परीक्षा

यद्यपि सुख के दार्शनिक विवेचन करने का यह प्रसंग नहीं (और ऐसा करने के लिए स्थान भी बहुत अपेक्षित है) तथापि दो चार शब्द इसके सम्बन्ध में कह देना अत्यन्त आवश्यक समझता हूं, क्योंकि इसके समझे बिना विषय का बोध होना दुष्कर है, गायत्री के रहस्य का उद्घाटन कठिन है।

उसके आन्तरिक लक्षण पर कुछ नहीं कहूंगा। यहां तो उन

निर्देशों, चिन्हों, परीक्षाओं का प्रतिपादन संक्षेप में करना है, जिनसे सुख का स्थूल स्वरूप समझ में कुछ कुछ आ सके।

यह भूलकर भी नहीं समझना चाहिए कि 'दुःखनिवृतिमात्र' ही सुख है। दुःखनिवृत हो जाने पर (ज्ञानद्वारा) सुखप्राप्ति का मार्ग खुल जाता है। दुःख का या दुःख के हेतुओं का अभावमात्र या विनाश 'सुख' नहीं है। सुख भावात्मक है। दुश्मन का चले जाना मात्र स्वराज्य स्थापन नहीं; उसके पश्चात् जब एक न्यायपूर्ण शासन प्रणाली सर्वोदय के निमित्त चालू हो जावेगी, तभी सच्चे अर्थों में स्वशासनप्रतिष्ठा मानी जा सकेगी।

दुःख का विरोधी सुख है। इस दुःख के तीन रूप हैं--"भूख, बेकारी, और गुलामी।" इसी को संस्कृत परिभाषा में बुभुक्षा, (क्षुत्पिपासा) नैष्कर्म्य (कर्म हीनता आलस्य+दरिद्रता), पराधीनता या दासता कह सकते हैं। दुःख की सचाई को हृदयंगम करने के लिये मानव की दासता, दरिद्रता, व क्षुधा को विस्तार से देखना चाहिये। प्रत्येक को इन तीनों को उठाना अपने जीवन का महत्वपूर्ण भाग बना लेना चाहिये। इनकी भीषणता को हलका करना ही संसार में सुखशान्ति सम्पादन करना है।

(क) बुभुक्षा

सबसे प्रथम बुभुक्षा को लेते हैं। लोकोक्ति प्रसिद्ध है कि—

"बुभुक्षितः किं न करोति पापम्"

यह पापी पेट ही अधिकांश दुःखों का मूल है। भूखा जो कर बैठे, सो थोड़ा है। पंजाब में एक कहावत है- 'पल्लें पइयां रोटियाँ तां सब्बे गल्लाँ मोटियाँ,' पेट में रोटी होती हो तो सभी बातें अच्छी होती हैं। 'पल्ले नहीं रोटियाँ, तां सब्बे गल्लाँ खोटियाँ।" भूखे को सब बातें खोटी मानी जाती हैं। जिसके घर भरे हों दाने, उसके कमले भी

ल्याने। पेट की आग मनुष्य के मस्तिष्क को भी उष्ण कर देती है, जिसमें मानवता ही भस्मीभूत हो जाती है। दुनियां में भूखा रहे सूखा, भरा रहे हरा, संसार में पाये जानेवाले अधिकांश पापों का प्रधान कारण यही भूख है।

यह भूख (तथा प्यास) दो प्रकार की होती है। शारीरिक तथा मानसिक। हो सकता है कि एक के पास खाने पीने का सामान पर्याप्त मात्रा में हो, पर उसकी जिज्ञासारूपी भूख को निवारण करने का भोजन न हो, वह भी दुखी हीरहेगा। कइयों का विशेष करके हमारे कम्यूनिस्ट भाइयों का यह कहना कि यदि सबको रोटी कपड़ा मिल जावे तो 'शान्ति सुख' हो जावे पूर्णतः ठीक नहीं। मनुष्य ज्ञानवान् प्राणी है। प्राकृति को देख उसके मस्तिष्क में विक्षोभ उत्पन्न होता है। यह उसकी बौद्धिक या आध्याभिक भूख है, इसकी शान्ति भी परम आवश्यक है। शास्त्रकारों ने अन्नब्रह्म की उपासना कहीं तो अवश्य है, पर साथहीं उससे ऊपर जाने को भी कह दिया है।

इस दिशा में बच्चे का उदाहरण उपयुक्त होगा। मूर्खा माता समझती है कि बच्चे के रोने का भूख ही एक मात्र कारण है। वह समय बेसमय मुख में स्तन ठूँसठूँस उसे चुप कराती है। वह भूल जाती है कि उसके रोने के अन्य भी कारण हो सकते हैं। यही अवस्था मानव की है। उसकी भी भूख को ठीक ठीक पहचानना चाहिये

यहाँ पर 'बुभुक्षा' को बहुत व्यापक अर्थ में प्रयुक्त कर दिया है। पुरुष के पास जो कर्मेन्द्रियाँ व ज्ञानेन्द्रियां हैं, वे सब किसी न किसी प्रकार की तृप्ति चाहती हैं। प्रत्येक इन्द्रिय की अपनी अपनी भूख हैं। उसकी जब तक उचित ढंग से तृप्ति नहीं कर दी जाती, तब तक मनुष्य को शान्ति नहीं मिलती, दिल की कसक मिटती नहीं। इसका अभिप्राय यह है कि तृप्ति के पूरक पदार्थों का अभाव दुःख जनक है। 'अभाव'

भयानक शत्रु है। बुभुक्षा नैसर्गिक है, उसके पूरक पदार्थों का न होना दुःख पैदा करता है। जो पदार्थ मानवकी मूल आवश्यकताओं के पूरा करने वाले हैं उनकी प्राप्ति (उनका भाव) होने पर ही मानवकी भूख मिट सकेगी। वेदमें कहा है 'तं लोकं पुण्यं प्रज्ञेषं यत्र सेदिर्न विद्यते' वही पुण्य भूमि है जहां की किसी प्रकार का अभाव नहीं

परन्तु यही उसकी अभिलषित दशा नहीं हैं यहतोउसमें निश्चिन्तता भरती है जो कि 'चरम सुख=शाश्वत शांति' की पूर्व दशा है तथा उसका मार्ग आसान बना देती है।

(ख) नैष्कर्म्य

दूसरी चीज है बेकारी। इसके भी मोटे तौर पर दो रूप है। एक तो काम न मिलने से बेकारी रहना। साधारण लोग इतनेको ही बेकार होना समझते हैं। दूसरा पैसा पास होने पर हाथ पर हाथ धरे या मक्खी मारते रहना भी बेकारी में ही गिना जाता है। इसी को कर्म हीनता कहते हैं। कर्महीन बैठना घर बैठे शैतान को न्योता देना है। कर्महीन पुरुष मानों नरक का मार्ग अपने लिये स्वयं ही बना लेते हैं।

बोलचाल की भाषा में इस बेकारी को निकम्मापन कहते हैं। ऐसे व्यक्ति निकम्मे या निठल्ले कहे जाते हैं।

किसी भी स्थिति में क्यों न हो, विना कार्य के रहना बेकारी है। मैं तो इसे भी बेकारी समझता हूं कि मनुष्य के पास किसी करने योग्य कार्य का न बचना अर्थात् कार्य समाप्ति। वैदिक आदर्श तो निम्न है।

"कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेच्छतं समाः"।

(यजुःवेद)

अर्थात् मनुष्य को चाहिए कि वह कर्म करते हुये हीसौ वर्ष तक जीने की इच्छा करे। क्योंकि निरन्तर कर्म करनेवालों पर ही देव प्रसन्न होते हैं, उन्हेंही दिव्य शक्तियाँ मिलती हैं। आलसी को कौन पूछता है?

'नहि सुप्तस्य सिंहस्य प्रविशन्ति मुखे मृगाः ।' प्रयत्न से ही सब मनोरथ सिद्ध होते हैं। सोते सिंह के भी मुख में पशु स्वयं जाकर गिर नहीं पड़ते ।

"शतहस्त समाहर सहस्त्रहस्तसंकिर"।

(ऋग्वेद)

यहाँ मनुष्य को सौ हाथों से परिश्रम करने को कहा है, यद्यपि उसके दो ही हाथ हैं। परन्तु यदि दो हाथोंवाले मनुष्य के लिये सौ हाथ से कमाना (अर्थात् अपने जीवन योग्य कार्य का निर्वाहण) लिखा है तो परोपकार सहस्त्र हाथों द्वारा करने को कहा है । इस आदर्शवाला मनुष्य क्योंकि कभी बेकार या खाली नहीं रहता इसलिये सदा सुखी है। नाना प्रकार की आधि–व्याधियां, दुर्भिक्षादि दरिद्री आलसी मानवोंके पासही आते हैं । धनी सदा रोगी, किसान सदा स्वस्थ क्यों! इसीलियेकि वह कभी खाली नहीं बैठता । प्राचीन काल में हमारे पूर्वज आर्यों के सदा विजयी रहने का यह भी एक कारण था । उन्होने वर्णाश्रम–व्यवस्था द्वारा समस्त जाति को कर्मनिष्ठ बना दिया था । प्रत्येक को उसकी योग्यता व सामर्थ्य के अनुकूल कार्य दे दिया था। इसी लिये यहां न चोरी थी, न दुर्भिक्ष थी, न व्यभिचार था ।

बर्तमान में भारतीयों का जीवन हरप्रकार से कर्महीन है । बहुत सारे तो जीवन को चलाये जाने योग्य कर्म (नौकरी) न मिलने से दुःखी हैं । दूसरे वर्ग में ऐसे हैं, जिन्हे धन जमींदारी होने से करने योग्य काम नहीं मिलता । तीसरे (जिसमें पचास प्रतिशत भारतीय हैं) बहुत सारे ऐसे काम है जो किसी भी प्रकार से सुख देने वाले नहीं हैं । हमारे जीवन का बहुत बड़ा भाग बहुत व्यर्थ के कामों में भी नष्ट हो रहा है । मैं इन सब स्थितियों को कर्महीनता की दशा ही मानता हूं क्यों कि इससे भी हमें दुःख ही मिल रहा होता है ।

(ग) पराधीनता

तीसरी चीज दासता है। साधारणतया दासता का अर्थ लोग एक जाति का दूसरी जाति के नीचे होना समझते हैं। यह भी किसी अंश मे ठीक है परन्तु पूरे तौर नहीं। हमें तो इसका सच्चा व्यापक अर्थ अपने सामने रखना चाहिए। एक स्वतन्त्र समझेजाने वाले देश में भी यदि व्यक्ति के विकास का उचित अवकाश नहीं, वहां भी दासताहीहै। रशिया में प्रजास्वातन्त्र्य के नाम पर यदि धर्म और ईश्वर पर विश्वास रखने वालों पर अत्याचार होता था, उन्हे घृणा की दृष्टि से देखा जाता था तो इसे कौन बुद्धिमान् स्वतन्त्रता कहसकता है ? वहां पहले यदि धार्मिक दासता थी, तो पीछे राजनैतिक होगई। हम रशिया सम्बन्धी पुस्तकों में पढ़ते हैं कि वहां धर्म और ईश्वर पर विश्वास रखने वालों को नौकरी नहीं दीजाती थी। कवित्व करनेवालों पर यह प्रतिबन्ध था कि वे तारों के पार न झाकें, चन्द्र में प्रवेश न करें, युवति की पलकों के पीछे छिपे संसार को न देख सकें। यह दासता नहीं तो क्या है ?

क्यों कि मानव इस प्रकार की पराधीनता भी सहन नहीं कर सकता इसलियें रशिया में पुनः धर्म और ईश्वर पर विश्वास रखने वालों के लिये सुविधायें देना प्रारम्भ होगयाहै, चर्च खुलने लग गये हैं। अखबारों से पता चला है कि वहां सत्तर प्रतिशत जनता ईश्वर को मानने वाली हो गई हैं। तुलसीदास महाकवि ने सत्य कहा है:—

'पराधीन सुख सपनेहि नाहीं,' पराधीन को तो स्वप्न में भी चैन नहीं। वर्तमान काल में इस पराधीनता ने विश्व-शान्ति व व्यवस्था को सर्वथा छिन्नभिन्न करदिया है। यदि एक देश सौभाग्यवश दूसरे किसी देश द्वारा पराधीन नहीं तो एक दल के शासन ने उसदेश मे दूसरे दलवालों को सीखचो मेंजंजीरों से बांध डाला हुआ है। विचार स्वतंत्र्य व लेखन- स्वात्र्य तथा स्वात्म-निर्णय का अधिकार ये

स्वाधीनता की वास्तविक कसौटियां हैं। पर क्या कहीं दृष्टिगोचर होती हैं ?

साथ ही दासता के दो और पहलू भी सदा ध्यान में रखने चाहिए। पहला मानसिक दासता है। जैसे भारतवर्ष में आजकल मानसिक दासता का भयानक तांडव नृत्य हो रहा है। इसको मैं राजनीतिक पराधीनता से भी अधिक भयानक व दुःखदायी समझता हूं। क्योंकि दीर्घकालीन पराधीनता का कारण यही होती है। यही कारण है कि एक जाति दूसरी जाति को दास बनाने के लिए, उसकी भाषा, सभ्यता, आचार-विचार, धर्म आदि सबका विनाश कर देती है। उस समय पराधीन जाति में 'अपनेपन' का भाव ही नष्ट हो जाता है। उसके अन्दर अनुकरण की भावना बड़ी तीव्र हो जाती है जिससे वह पंगु बन जाती है। उसका स्वभाविक विकास रुक जाता है, और कृत्रिमता उसकी नस नस में भर उसे जर्जरित कर देती है जिसने (मानसिकदासता रूपी इस) आन्तरिक विदेशी प्रभाव को नहीं मिटाया वह राजनैतिक परदेशी शासन को कैसे निकाल सकता है ? हमने अपनी भाषा, वेशभूषा, आचार-विचार, धर्म, सभ्यता, साहित्य का सर्वथा परित्याग कर दिया है। वैसे तो विश्व का इतिहास इसी की ज्वलन्त कहानी है।

इसका दूसरा पहलू सांसारिक दासता है अर्थात् हम विषय-भोगों के इतने अधिक आधीन हैं कि जीवन भर सत्कार्य करने का अवसर नहीं मिलता। बलवती इन्द्रियों के वश में चले जाना, मन के चलाये चलना, आत्महनन करना ये भी पराधीनता के ही लक्षण हैं। 'इन्द्रियजय' राज्य का मूल कारण है। इसकी सचाई को साधारण लोग नहीं समझते। जो अपने पिण्ड में स्वराज्य=स्वशासन नहीं चला सकता, वह ब्रह्माण्ड में स्वराज्य की स्थापना कैसे कर सकता है ?

यदि कभी आर्यवर्त की स्वतन्त्रता का नाम आ जाता है, तो मुसलमानों से डरने वाले कुछ हिन्दू भाई, हिन्दू मुस्लिम एकता की दुहाई देते हुये यहां तक पहुँचने में भी नहीं रुकते कि भारत वर्ष की दासता का प्रारम्भ ब्रिटिश जातिके यहां आनेके पश्चात् हुआ है। उनकी दृष्टि में मुसलमानी शासन में भारत स्वतन्त्र था। वे भूल जाते हैं कि उस समय आर्य सभ्यता में मिलावट, भाषारूप में परिवर्तन वेशभूषा-परिवर्तन हिन्दुओं के वैयक्तिक व सामाजिक अधिकारों का अपहरण हुआ। इसलिये मैं तो उसे भी पराधीनता ही समझता हूँ। उस समय, भारत की पराधीनता' का अभिप्राय केवलमात्र हिन्दुओं की पराधीनता थी, अब 'हिन्दू मुसलमान' दोनों की। इसलिये 'दासता' के ठीक ठीक अर्थ को समझने की हमें आवश्कता है, कई हतभाग्य इससे भी अधिक भयानक भ्रान्तिभंवर में पड़ जाते हैं। कहते हैं, व्यवस्था के बिना तो कोई संघ रह नहीं सकता। व्यवस्था के लिये शासक का होना आवश्यक है। वह शासक कोई भी क्यों न हो; विदेशी हो या स्वदेशी, हमें तो टैक्स देना ही पड़ेगा, पुलिस की घुड़कियां खानी ही पड़ेंगी".....परमेश्वर ही इन भक्तों वेदान्तियों से बचाये। वे ऋषि दयानन्द के इन सनातन वाक्यों को भूल जाते हैं—"कोई कितना भी क्यों न करे, स्वदेशी राज्य सर्वोत्तम होता है। विदेशियों का शासन वांछनीय नहीं।" गुलाम रहना स्वेच्छा से कब्र में पैर लटकाये बैठना है। पराधीन देश 'श्मशानभूमि' हैं। जठराग्नि जहां लाखों का दाह करती है; कर्म हीनता जहां किसी को उठने नहीं देती; दासता जहां सबका मुख बन्द किये रहती है।

इस भ्रम से भी पाठकों को निकाल देना चाहता हूं कि विदेशी शासन के उठ जाने मात्र से ही पराधीनता भाग जाती है। जब तक देश में वर्गों का झगड़ा रहता है, एक वर्ग दूसरे वर्ग का शोषण

करता है, तब तक स्वतन्त्रता नहीं आती। स्वाधीनता वहीं मानी जाती है, जहां सबको अपने शरीरिक व मानसिक पोषण का पूरा अवकाश मिले; जहां मनुष्य अपनी आर्थिक, सामाजिक, राजनैतिक, तथा आध्यात्मिक सब प्रकार की समस्याओं का हल बिना आन्तरिक तथा बाह्य बाधा के कर सके।

ये तीन दुःख के रूप हैं। इनके अत्यन्ताभाव का नाम अप-वर्ग, मुक्ति, निर्वाण या मोक्ष है। वे दुःख चाहे किसी प्रकार के क्यों न हों? इस संसार में जीवित दशा में जब हम सुख को प्राप्त करते हैं, तो उसे 'अभ्युदय' कहते हैं; जब अभ्युदय प्राप्त कर परलोक का अपना मार्ग सुधारते हैं, तो उस दशा को निःश्रेयस् कहा जाता है।

६. विदेशी तत्व

सर्वथा नीरोग व्यक्ति को भारतीय भाषाओं में 'स्वस्थ' कहा जाता है। इसको यों भी कह सकते हैं जिस का शरीर रोगों द्वारा पराभूत नहीं होता वही 'स्वस्थ' है। इसी प्रकार एक 'अपराजित जाति को 'स्वतन्त्र' कहते हैं। 'स्वस्थ' और 'स्वतन्त्र' दोनों में 'स्व' शब्द प्रधान है। यह 'स्व' शब्द भारतीय साहित्य में अत्यन्त सारगर्भितपद है। इसका सीधा अर्थ है, अपना पन-निज भाव। शरीर शास्त्रनेत्ताओं का निर्णय है कि जब मानवदेहमें (उसकी निजस्थिति को कयम रखने वाले तत्वों के स्थान पर) विजातीद्रव्य (फौरेनमैटर) का प्रभुत्व हो जाता है तब वह 'अ+स्व×स्थ हो जाता है। अर्थात् जब किसी व्यक्ति केशरीर में 'जातिय पोजक तत्वों' की अपेक्षा विजातिय द्रव्यों का संग्रह अधिक मात्रामें हो जाता है तब उसकी 'स्व×स्थता(अपने पनमें स्थिति) नही रहती। परिणामतः गड़ बड़े पैदा हो जाती है। मनुष्य सुस्त(जिस के बस में अपना आप नही रहता–) होजाता है। शरीर में भिन्न भिन्न अवयवों का संगठन टूटने लगता है। साधारण भाषा में इसी स्थिति

को बीमार हो जाना अंगों का टूटना कहा जाता है। शरीरमें एक प्रकार की निर्वीर्यता, शिथिलता निष्क्रियता, जड़ता, अपनेको अन्दर ही अन्दर खोखला अनुभव करने की प्रवृत्ति उत्पन्न हो जाती है। इस दशा में उसकी अपनी वास्तविक स्थिति मिटने लगती है, उत्तरोतर जीवन में क्षीणता आजाती है, मलावरोध हो कर पेट बिगड़ जाता है। यही अस्वस्थ मनुष्य के लक्षण हैं।

१–भूख या तो लगती नहीं या सदा लगती है। भूख के सिवा और कुछ सूझता ही नहीं, भूख के विषय में अव्यवस्था हो जाती है।

२. किसी भी कार्य के करने में मन नहीं लगता है। चित्त उदास सा रहता है। खाली बैठने को जी करता है। इस दशा में बेचैनी होती हैं। प्रकृति बिगड़ जाती है।

३; औषध और भृत्य के भरोसे उसकी जीवन गाड़ी चलती है। परवश हो जाता है। अपने आप खड़े रहने की ताकत नहीं रहती।

इस लिये किसी मनुष्य को यदि स्वस्थ देखना हो तो इन तीन [भूख, बेकार बैठना, पराश्रित जीवन] को हटाना आवश्यक है। इसका उपाय विजातीय तत्वों को यथायोग्य उपायों द्वारा अर्थात् (यदि अवसर हो तो) चीरफाड़ द्वारा (हिंसा) अथवा सौम्य उपाय औषध प्रयोग (अहिंसा) द्वारा शरीर में से निकाल देना चाहिये।

ठीक इसी प्रकार एक देश की दशा होती है जब उसमें विदेशी शक्तियां आकर अपना प्रभाव जमा लेती हैं। इस जाति का 'नाभिकेंद्र' बिगड़ जाता है, जाति के अंग (भिन्न २ सम्प्रदाय) टूटने लग जाते हैं (देश में फूट पड़ जाती है)। उस देश का जातीय चरित्र दूषित हो जाता है। गुलाम जाति बुराई का घर होती है। उस समय...

१. यह जाति भूखी मरने लगती है। भयानक अन्न संकट हो जाता है।

२. बेकारी छा जाती है, निकम्मापन आलस्य और प्रमाद जातीय जीवन में भर जाते हैं।

३. बिना दूसरों की सहायता के जीना कठिन समझती है। हर बात में दूसरे की मुंहताज बन जाती है। भृत्य की तरह दूसरों के शासन में रहने की प्रकृति व अनुकरण बुद्धि उत्पन्न हो जाती है। जाति का भयानक नैतिक पतन हो जाता है।

इस लिये इस दशा से बचने के लिये विदेशी शक्तियों के प्रभाव को हटाना अनिवार्य है।

७. मनुष्य

जब हम 'मनुष्य' के दुःखी होने की चर्चा करते हैं तो हमारे सामने विशिष्ट रचनावयवयुक्त एक प्राणी की मूर्ति आती है। बाहर के शारीरिक आवरण को हम अपनी आंखों से देख रहे होते हैं; हम उसे श्वास प्रश्वास द्वारा सिकुड़ते फूलते भी पाते हैं। क्या पुरुष इतना ही है? इस स्थूल दृश्यमान् शरीर के भीतर अन्य भी चार शरीर (आवरण, तहें, स्तर) होती हैं, जिन्हें योग ग्रन्थों में कोष नाम दिया है। इन पांचों कोषों के सम्मिलित समूह का नाम 'पुरुष' है।

१. अन्नमय कोष इसका मनुष्य की भूख प्यास से सम्बन्ध है। मनुष्य के शरीर की सुन्दर अवयवगठन भी इसी से सम्बन्ध है।

२. प्राणमय कोषः—इस का मनुष्य के श्वासोच्छ्वास से सम्बन्ध है। ये दो कोष दिखते हैं।

३. मनोमयकोष—संकल्प-विकल्प करने वाला यह तीसरा कोष है।

४. विज्ञानमय कोष—निश्चयात्मिकाबुद्धि, संकल्प विकल्प के पश्चात् किसी निर्णय पर पहुंचना। ये दोनों कोष—अदृश्य हैं।

५. आनन्दमय कोष—इससे आनन्दानुभूति होती है। अपनी

अपनी योग्यताओं के अनुसार मनुष्यों की इन शरीरों तक पहुंच होती है। कईयों का जीवन व्यापार केवल अन्नमयकोष तक ही सीमित रहता है और कई उससे आगे। विरले ही पांचवें कोष तक पहुंच पाते हैं।

यदि आनन्दमय कोष तक पहुंचना हो तो इन चारों सीढ़ियों को पार करना पड़ता है। आनन्द का पर्याय वाची स्वः शब्द है। यहीं अपना 'स्व' आत्मा भी विराजता है।

एक व्यक्ति का अन्नमयकोष बिगड़ जाता है, जब उसकी भूख शान्त नहीं होती है; प्राणमय कोष द्वारा उसे तब दुःख होता है जब उसका श्वासोच्छ्वास ठीक नहीं रहता उसी समय वह रोगी अस्वस्थ बन जाता है। मनोमय कोष में विकार आजाने से स्वयं कुछ विचार न कर सकने की या नकल की प्रवृति बढ़ जाती है, विज्ञानमय कोष के विकृत हो जाने से अस्थिर चिन्तता, किसी काम पर दृढ़ न रहने का स्वभाव बन जाता है। जब ये चारों बिगड़ जाते हैं, मनुष्य में सुखानुभूति का लवलेश भी नहीं रहता, वह अपने को निराश सा अनुभव करता है, उसे सभी पदार्थों घटनायों से दुःख मिलता नजर आता है।

एक जाति के भी (मनुष्य की तरह ही) पांच कोष होते हैं। जब पहला कोष बिगड़ जाता है तो अन्नसंकट, दुर्भिक्षादि फैलने लग जाते हैं। प्राणमय कोष का बिगड़ना रोग कमजोरी कम उमर का होना आदि बातें पैदा कर देता है। सब बातों में दूसरों की नकल करना, किकर्त्तव्य विमूढ़ रहना मनोमय कोष का विकार है। किसी भी एक निश्चय पर न पहुंचना विज्ञानमय कोष की खराबी का द्योतक है। जब ये चार बिगड़ें तो उस जाति में आनन्द की कल्पना व्यर्थ ही है।

अपनी बात सुन न सकना, 'भुवः' की पराधीनता का मर्मस्पर्शी चित्र है। इसी का दूसरा नाम 'स्वभाग्यनिर्णय का अधिकार न होना है।

९. विश्वशान्ति का चार्टर = विधान

चाहे किसी को भी सुच 'स्व' क्यों न प्राप्त करना हो, भूर्भुवः दोनों का होना अनिवार्य है। आज दुनियां में भूख बेकारी और गुलामी से त्राहि त्राहि मची है। अमनचैन की बंशी बजाने के लिए लोग लालायित हैं। शान्ति सुख प्राप्ति के लिए प्रजा अधीर है। उसका अचूक सीधा सादा उपचार यह गायत्री मन्त्र है। यदि साम्राज्यवादियों को यह समझ में आजावे कि सबको 'स्वः' (एवं स्व) चाहिए और इसके लिये सभी के पास 'भूर्भुवः' का होना जरूरी है तो मां वसुन्धरा का हृदय बींधना बन्द हो जावे, दुनिया में शान्ति छा जावे, उपद्रव सदा के खिये लुप्त हो जावें।

विश्वशान्ति की यही अमोघ औषध है। एक 'पीड़ित जाति' को उसका 'भूः' = राजनैतिक सत्ता दे दीजिए, उसको हड़पने का ख्याल छोड़ दीजिए, उस पर से व्यापारिक प्रभुत्व उठा लीजिए उसे आधा सुख आप ही मिल जायगा, उसका भूखा मरना बन्द हो जायगा। अमृत भरित गोद में बच्चे का बिलखते तड़पते मर जाना सिवा इसके क्या हो सकता है कि उसे 'स्तन चूसने का अधिकार नहीं? उसका पान कोई और करता है। उसकी भाषा सभ्यता व धर्म को पनपने दो, आधा सुख और मिल जावेगा उसकी नैतिक मृत्यु कभी नहीं हो सकेगी। दुनिया में हर जाति को अपने देश में 'खाने पीने पहिरने बसने' तथा 'बोलने लिखने सुनने सोचने' का समान अधिकार होना चाहिए।

इसी का नाम 'स्व+तन्त्रता' या 'स्वभाग्यनिर्णय' के अधिकार का होना है। विश्व में शान्तिस्थापना करने के लिये बीसियों प्रयत्न

किये जा चुके हैं, पचासों किये जावेंगे। क्योंकि गत प्रयत्नों में इस मूलभूत सचाई की सर्वथा उपेक्षा की जाती रही है, इसी लिए शान्तिस्थापना के ये सब प्रयत्न भयानक युद्धों की ही सृष्टि करते रहे हैं। कुछ बड़ी शक्तियां चोरों की तरह लूटमार का माल समझ जगत् को बांट रही हैं और उनके उपभोग की सोच रही है। यदि आगे भी यही बेढंगी चाल रही तो 'विश्वशान्ति' आकाश-कुसुम से अधिक कुछ न होगी। 'वन्ध्यापुत्र' का विवाह 'नपुंसक-पुत्री' से हो जाने पर क्या कभी शान्ति और सुव्यवस्था उत्पन्न हो सकती हैं ?

इसी का उपाय या मूलमन्त्र यह गायत्री हैं। विश्व में पूर्ण शान्ति का इससे सरल व पूर्ण युक्तियुक्त उपाय और कुछ नहीं। यह सत्य सनातन हैं, सार्वभौमिक नियम है। यह सूत्र रूप में कहा 'महान् सत्य' है। तीन शब्दों में 'शाश्वत सुख' प्राप्ति का निराला उपाय कह दिया है। यही आर्यों की विजय का वास्तविक मूल मन्त्र है; महा वाक्य है।

१०. उपसंहार, अन्तिम निवेदन

भौतिकवादियों की दृष्टि में भू- सम्पादन मात्र से ही स्व' की प्राप्ति हो जाती है। अध्यात्मवादियो के विचार में 'भुव' की प्रधानता है, 'भू' गौण है, आदर्शवादी अवसरवादी महर्षि दयानन्द भू,भुवः= विद्या अविद्या= भौतिकवाद अभौतिक-वाद दोनों के सन्तुलितसमन्वय से स्व; की उपलब्धि मानते हैं। मुझे इस बात का अभिमान है कि मैं उसी के प्रदर्शित कल्याण मार्ग का पथिक हूँ। मैं उसकी सेना का एक सिपाही हूँ, जिसके समक्ष जहां कई अन्य समस्यायें हैं वहां एक यह समस्या भी है कि मानव जाति के सामने एक ऐसी कौन सी योजना रक्खे जिससे उसके समस्त दुखों की समाप्ति हो जावे ? समय-समय पर विश्वमें न जाने कितनी लहरें इस दिशामें चली ? अब उनका चिन्हमात्र

अवशेष रहगया है। सबने अपने २ तौरपर इसका समाधान किया महर्षि ने तो इसके लिये ही विषपान किया। इसी में ही अपनी मुक्ति समझी परन्तु हमने वह मार्ग ही छोड़ दिया। विश्वकल्याण देखिये, ऋषि ने इसके लिये क्या कहा है! आर्याभिविनय में ईश्वर की प्रार्थना हो रही है। बुद्धि की प्रार्थना के अनन्तर ही हे प्रभो? हमें 'चक्रवर्ती साम्राराज्य स्थापनकी शक्ति दो' ऐसा छः बार लिखा है। इसका अभिप्राय क्या है? ऐसी कौन से अवरोधक तत्व हैं, जो हमारे समाज को इस दिशा में कुछ कार्य करने से राकते हैं? हमारे सामने यह एक गम्भीर प्रश्न है। गायत्री का जाप करने वाले प्रत्येक भाई से (विशेषकर आर्यसमाजी से क्योंकि भारत वर्ष के नवयुग के इतिहास निर्माण में इसने सदा महत्व पूर्ण भाग लिया है) कहूँगा कि एक जाति का दूसरी जाति के नीचे रहना भी बन्धन है और जब तक ये बन्धन कटते नहीं, तब तक मुक्ति और मोक्ष का स्वप्न लेना सर्वथा व्यर्थ है, सातवें आसमान पर अपने लिये सीट रिजर्व कराने जैसा भद्दाख्याल है।

यदि समाज ने प्रगति की दिशा का ओर पादक्षेप करता है तो वर्तमान कार्यक्रम को पूरा का पूरा बदलाना पड़ेगा। उद्देश्य तोनिश्चित है मेरा अभिप्राय उसे छोड़ने का नहीं। मैं तो देखता हूँ कि हम वास्तविक ध्येय से दूर होते जा रहे हैं इसी लिये कहता हूं कि हम को अब इस दिशा में अभय हो चलना पड़ेगा। नित्य अभयममित्रान्, अभयन्नित की प्रार्थना करने वाले आर्य समाजी का पराधीनता की दशा में रहना या इसे तोड़ने का प्रयत्न न करना परमेश्वर से उपहास करना नहीं तो क्या है! यों तो मानवदेहधारी जीव का दास बना रहना ऊँचे से नीचे गिरना है। यह भूमि दासों के लिये नहीं अपितु क्रान्तिकारी स्वतंत्र नागरिकों= आर्यों के लिये ही नियत की गई है।

मेरा मास्तिष्क गत कई वर्षों से इस दिशा में सोच रहा है। मै भी

बड़े ध्यान पूर्वक दुनिया के उतार चढ़ाव को परख रहा हूं। राजनीति के बदलते रंगो को स्पष्ठ दृष्टिसे देख रहा हूं दुःखी तभी होता हूं जबकि अपनी 'वाणी' को कहीं नहीं पाता। अपने समाज को सर्वथा उपेक्षित तिरस्कृत पाता हूँ। आर्य समाजों में साप्ताहिक सत्सङ्ग से बढ़कर दैनिक संख्या प्रारम्भ हो गये हैं। बड़े बड़े उत्सव कर लिये गये हैं और चिल्ला चिल्ला कर घोषणा कर दी गई है कि 'आर्य समाज में निराशा का वातावरण देखनेवाले बेवकूफ हैं'। एक मान्य संन्यासी तो यह कह बैठे कि 'अभी तो समाज ने कार्य प्रारम्भ किया है। मैं उन्हें इस आत्मप्रपंचना से सविशन कह देना चाहता हूं। समाज का कार्य तो उस दिन प्रारम्भ होगा, जिस दिन 'चक्रवर्ती साम्राज्य' की स्थापना के लिये हम सब निर्भय होकर कदम उठावेंगे। जिस दिन सब आर्यवीर पांचजन्यशंख फूँकेंगे, उसी दिन 'गायत्री' का जाप सफल होगा।

——※×※——

हम इन पांचों कोषों के घेरे में बन्द हैं। जब पहले चार पराधीन तो 'आनन्द'=स्वः नहीं मिल सकता, जब ये चार स्वाधीन तभी हमें आनन्दमयकोष=स्वतंत्रता सुख तक पहुंचने का अवसर मिल सकता है।

पहली अन्नमय कोष की पराधीनता को दूर करने के लिये तेजीस्वता; प्राणमय कोष की पराधीनता को हटाने के लिये वीर्य वाइरैलिटि; मनोमय कोष की पराधीनता निवारण के निमित बल और ओज (अपने विस्तार की इच्छा प्रवृति); विज्ञानमय कोष की पराधीनता के विनाशार्थ मनन शीलता प्राप्त करनी चाहिये। इसमें अन्नमय तथा प्राणमय कोष 'भूः' से सम्बन्ध हैं, और अन्नमय तथा विज्ञानमय कोष 'भुवः' के अन्तर्गत हैं। आनन्द मयकोष 'स्वः' ही है।

इतने विवेचन से हमें यह ज्ञात होगया है कि सुखी होने का क्या चिन्ह है? इसकी निदर्शक एक उत्तम त्रुटिशून्य कसौटी मैंने ऊपर वर्णन कर दी है। जिस पर इन तीन भयानक पिशाचों की मार नहीं पड़ती, वही सुखी है। जिस देश को ये तीन भूत नहीं चिपटते वहीं पर सुखसमृद्धि की छटा छिटकती है।

अब हमें यह जान लेना चाहिये कि वह दशा कब आती है जब कि 'भूख, बेकारी व दासता' के त्रिशूल की नोकें प्राणी को नहीं चुभती?

यहां हमें इस बात को मस्तिष्क से ओझल नहीं होने देना चाहिए कि 'भूख, बेकारी, गुलामी' ये तीन ही अन्य प्राणियों में भी लागू होते हैं। प्रसंग से बाहर होने के कारण उसका विचार यहां नहीं किया है।

८. मंत्रार्थ

इसी का रहस्य इस गायत्री-मन्त्र में उत्तमरीति से बताया गया

है। कि इसमें 'भूर्भुवः स्वः' ही सब कुछ है, यही 'मास्टर की' है। इसके दो भाग हैं। 'भूर्भुवः स्वः' × 'स्वः।' स्वः शब्द का अर्थ सुख होता है। यह एक विशेष वैदिक परिभाषा है, जिस का अभिप्राय 'आनन्द' व 'आत्मविभोर होना' है। इसी से 'स्वर्ग' शब्द बना है, जिसका अर्थ सुख को जाने का मार्ग व स्थिति है। 'स्वर्लोक' का अर्थ है—"वह स्थान व दशा जहां पूर्ण आनन्द की उपलब्धि हो = पाराकाष्ठा के सुख की अनुभूति हो।" लोक भाषा के 'स्व' शब्द का अर्थ 'अपनापन,' 'निज' है। तत्वज्ञानियों ने बताया है कि

"सर्वमात्मवशं सुखं, सर्वं परवशं दुःखम्।"

किसी वस्तु पर अपनापन सुख देता है, दूसरे का अधिकार दुःख देता है। अर्थात् स्वभाव ही स्वभाव–सुख है, परभाव दुःख है। इसीसे 'स्वतंत्रता,' स्वाधीनता, 'स्वराज्य' स्वदेश 'स्वशासन' आदि शब्द बने हैं। मनुष्य इनकी कामना इसी भावना से करता है, क्योंकि उसे इनसे 'सुखप्राप्ति' की आशा होती है।

'भू' शब्द का अर्थ 'होना' है; क्योंकि यह 'भू सत्तायाम्' धातु से बना है। इसका अर्थ भूमि, पृथिवी आदि भी हैं। इसमें सब भौतिक तत्व अन्तर्हित हैं। जो भी सत्तावान् पदार्थ हैं उन्हें 'भू' वर्ग में रक्खा जा सकता है। परन्तु ऐसा होता नहीं, यह एक विशेष पारिभाषिक संज्ञा बन गई है जो कि 'प्रत्यक्ष दृश्यमान भौतिक प्रपंच' के लिये ही प्रयुक्त होती है। 'भू लोक' का अर्थ पृथिवी तथा तत्सम्बन्धी पार्थिव पदार्थ हैं। हम इसे यों भी कह सकते हैं कि 'पंचभूतात्मक' सत्तावान् पदार्थ-समुदाय 'भूवर्ग' में आ जाता है।

'भुवः' शब्द भुव धातु से बना है, जिसका अर्थ 'अवकल्कन' है। अवकल्कनं चिन्तनम्। चिन्तन शब्द का अर्थ यदि व्यापक तौर पर लें तो तत्वबोध, विद्या, नागरिकता, संस्कृति, सभ्यतादि हैं। एक

व्यक्ति का 'चिन्तन' उसका ज्ञान सोची समझी बात ही हो सकता है। एक जाति का चिन्तन उसका साहित्य, उसकी भाषा धर्मादि ही हो सकते हैं।

अब आइए, इन तीन शब्दों की परस्पर संगति लगावें। यदि किसी को 'स्वः' को प्राप्त करना हो, तो उसे क्या करना चाहिए? 'भूः+भुवः' की प्राप्ति के लिए प्रयत्नशील होना चाहिए। सुख के मूल ये ही दो हैं। एक व्यक्ति सुखी है, इसका विश्लेषण यदि करें तो इस रहस्य का पता चल जायगा। एक पहलवान भौतिक तौर पर शारीरिक दृष्टि से पर्याप्त स्वस्थ है, परन्तु मानसिक या बौद्धिक विकास में बहुत पीछे है। वह भी धोखा खा जाता है. उसकी सदा दुर्गति होती है। एक व्यक्ति बड़ा भारी पण्डित है, पर जीवन भर वैद्य जी की दुकान के चक्कर लगाता है; वह भी सबसे पिटता है। स्पष्ट है कि पहलवान और पण्डित दोनों ही पूर्णरूप से सुखी नहीं सच्चे अर्थों में वही व्यक्ति सुखी हो सकता है, जो शारीरिक व मानसिक दोनों प्रकार से स्वस्थ है। इसी को साधारण भाषा में यों कहेंगे जिसकी शारीरिक शक्ति+बौद्धिक विकास हुए हैं, वही पूर्ण रूप से सुखी है; क्योंकि उसे कोई दबा नहीं सकता, उसे किसी का आश्रित नहीं होना पड़ता। वह पूरा 'स्वावलम्बी' होता है; पराश्रित नहीं रहता, पद्दलित नहीं होता।

अब इसी को वैदिक शब्दों का रूप दें तो गायत्री का भाव अर्थात प्राणरक्षण का उपाय हमारी समझ में सरलता से आ जायेगा। जिसका भूः शरीर तथा भुवः चिन्तन बुद्धि ठीक है वही स्वका अधिकारी है, उसी की जीवन-रक्षा होती है। जिसका शरीर नीरोग है और बुद्धि शुद्ध है।, वह कभी भी कष्ट में नहीं फंसता। उसको कोई धोखा नहीं दे सकता। उस पर कोई अत्याचार करने का साहस नहीं करता सब

उससे भय खाते हैं। मुसीबतेंभी उससे घबराती हैं जिसका बदन तगड़ा होता है और अकल ठिकाने पर रहती है। वही सच्चे अर्थों में श्रीमान् कहाता है, स्वस्थ होता है।

हमने ऊपर 'भूर्भुवः+स्वः के नियम को एक व्यक्ति पर लगाकर देखा। अब इसी फार्मूले को समष्टि (जाति)पर लागू करते हैं।

एक जाति स्वः×भाव (अर्थात्) सुखभाव आत्मभाव, स्वतन्त्रता को तब प्राप्त करती है, जबकि उसके पास 'भू' उसकी भूमी अर्थात् राजनीतिक अधिकार हों और साथ ही साथ भुव उसकी अपनी सभ्यता भाषा धर्मादि हों। एक जाति राजनैतिक दृष्टि से स्वतन्त्र हो सकती है।परन्तु यदि उसकी अपनी सभ्यता भाषा संस्कृति नहीं तो वह भी आधी दास ही है। एक जाति यदि सभ्यता का ऊँचा विकास किये हुये है, पर राजनीतिक अधिकार उसके पास अपने नहीं तो वह भी पराधीन ही हैं। जैसे अभागा भारत देश जिसके संचालन की बागडोर७०००मील दूर खूंटे में बन्धी हैं।

यदि इसको अधिक समझने योग्य भाषा में कहूं तो यों कह सकता हूं। 'स्वभाग्य निर्णय' के अधिकार का अभिप्राय यही है कि व्यक्ति या जाति के पास 'भूः+भुवः' दोनों हों। भाग्य शब्द भग से बना है, जिसका अभिप्राय समस्त ऐश्वर्य, कीर्ति आदि से है। यह तभी प्राप्त होता है जबकि वे 'भूः×भवः' का सम्पादन करते हैं। एक जाति जब अपनी भूमि की उपज पर अपना अधिकार रखती है तो वहां भूख, बेकारी, दुर्भिक्षादि का प्रादुर्भाव होता ही नहीं। इस 'यातायात के अत्युत्तम पुष्कल साधनों से पूरित' युग में अकाल में लाखों का अन्तिम सांस ले लेना 'भूः' के स्वाधीन न होने का ही ज्वलन्त उदाहरण है। रेडियो फोन, मुद्रणालय के इस काल में अपनी भाषा में बोल न सकना, अपने भावों में सोच न सकना,

लेखक की अन्य पुस्तकें

(१) वेदों की अन्तःसाक्षि का महत्व (अप्रभय)

(२) जन कल्याण का मूल मंत्र ।)

निम्न पुस्तकें अप्रकाशित हैं:-

१ 'आराम राज्य" अर्थात् महर्षिदयानन्द के चक्रवर्ती साम्राज्य की वैधानिक रूपरेखा लेखक के दस वर्ष के गम्भीर स्वाध्याय मनन का परिणाम।

२. श्राद्धविमर्श एक हजार पृष्ठों का महान ग्रन्थों जिसमें वेदों व अन्यशास्त्रों से मृतक श्राद्ध की निस्सारता सिद्ध की है।

३. अवतारवादविवेचन ४. मूर्तिपूजा मीमांसा

इन ग्रन्थों में तर्कपूर्ण रीति से वेदादिशास्त्रों के आधार पर इन दोनों विषयों की समालोचना की है।

५. पुराण मन्थन

दो हजार पृष्ठों का वृहत् ग्रन्थ का इसमें पुराणों का ऐतिहासिक विवेचना प्रत्येक पुराण की विमर्शनावड़े उत्तम ढंग से की गई है।

६. सूर्यकिरण प्रथम भाषा में कहानियों का संग्रह है।

द्वितिय मात्र में कुछ सर्वथा नवीन शैली की हास्यरसपूर्ण रचनायेहै जैसे हांकी की बौल लाठी, रेल का खम्भा खटमलों के बीच ; कूएडो के पास 'आदि

७. आर्यसमाज के दशनियम तीनभाग

१ प्रथम भाषा में वेदमंत्रों कासग्रह पृ० १७५ द्वितिया भाग में दस नियमो के समर्थक ऋषिवाक्यों का संग्रह पृ० १७५ तृतिय भाषा में स्वरचित व्याख्य पृ० १७५

८. श्रुतिबोध एक हजार पृष्ट इसमें सामाजिक आर्थिक राजनैतिक धार्मिक व अध्यात्मिक विषयों पर वेदमन्त्रोंका अपूर्व संग्रह हैं।

९. ऋषिदयानन्द की फिलौसफी

इसमें ऋषिदयानन्द की फिलौसफी का कमआर वर्णन किया गया है।

१०. सूर्यप्रकाश

इसमें लेखक के धार्मिक दार्शनिक सामाजिक निबन्धोंका संग्रह है।

११. कर्मदर्शन सर्वथा स्वतंत्रविचारों का अनुपम ग्रन्थ जिसमें कर्म से सम्बद्ध सब विषयों की तर्क पूर्ण विवेचना है।

संस्कार प्रदीपका

लेखक—श्री डा० ज्ञानचंद्र आर्य सेवक— संस्कार विधि का तत्व ज्ञान करने के लिये अत्योपयोगी पुस्तक छप रही हैं

मूल्य ६)

वैदिक भक्ति प्रकाश

लेखकः—श्री डा० ज्ञानचन्द्र जी आर्य सेवक—संध्या हवन मंत्र ईश्वर भक्ति के भजन व अन्य आर्य सामाजिक जानकारी के लिये बड़ा उत्तम संग्रह छपरहा है।

मूल्य १)

सर्व प्रकार की उपयोगी धार्मिक पुस्तकों के विक्रेता

गोविन्दराम हासानन्द

आर्य साहित्य भवन,
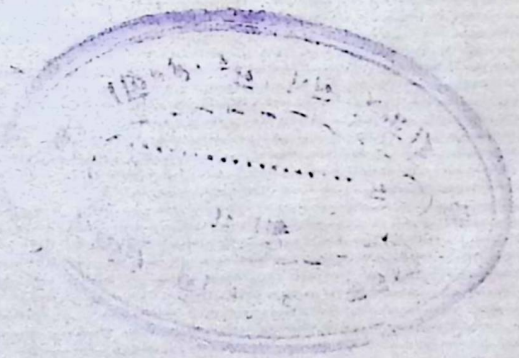
नई सड़क, देहली